साहित्य के विविध विमर्श

संपादक

डॉ. गीतू खन्ना

संपादक मंडल

डॉ. शक्ति, डॉ. अंजू, संदीप कौर

डॉ. लक्ष्मी गुप्ता, डॉ. अमनदीप कौर

विकास बुक कम्पनी

नई दिल्ली-110002

11. साहित्य और राजनीति 88
नितिन सुभाषराव कुंभकर्ण
12. Role of communication shaping the Indian literature 93
Dr Gunjan Sharma
13. साहित्य और बाल विमर्श 98
डॉ वन्दना गुप्ता
14. साहित्य में स्त्री विमर्श 104
साईमीरा जोशी
15. साहित्य में बाल विमर्श 108
अमित कुमार
16. डॉ॰ शांतिस्वरूप कुसुम के काव्य में पौराणिक कथाओं में नारी और समाज 113
रवि कुमार
17. Yog in Indian Literature 118
Dr Meenakshi Gupta
18. साहित्य में सांस्कृतिक पक्ष 123
डॉ. गीतू खन्ना
19. हिन्दी साहित्य में पर्यावरण विमर्श 130
डॉ. शक्ति बुद्धिराजा
20. हिन्दी साहित्य और बाल विमर्श 136
डॉ. अंजु बाला
21. हिन्दी साहित्य पर राजनीति का प्रभाव 145
संदीप कौर
22. ग्रामीण संदर्भ एवं स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास 152
डॉ. लक्ष्मी गुप्ता
23. हिन्दी साहित्य में बाजारवाद 160
डॉ. अमनदीप कौर
24. हिंदी साहित्य में बाल कथा विमर्श 166
मिस दीपमाला
25. भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का वर्तमान स्वरूप और इसका महत्त्व 173
मोनिका चोपड़ा
26. वर्तमान युग में बोध एवं आचरण में सामंजस्य जैन-आदिपुराण के संदर्भ में 177

हिन्दी साहित्य पर राजनीति का प्रभाव

संदीप कौर
असिस्टेंट प्रोफ़ेसर, हिन्दी विभाग,
गुरु नानक गर्ल्स कॉलेज, यमुनानगर
sandeepkjosan90@gmail.com

साहित्य समाज का दर्पण ही नहीं होता बल्कि वह दिशा-निर्देशक और पथ-प्रदर्शक भी होता है। साहित्य की भांति राजनीति भी किसी स्वतंत्र राष्ट्र और सर्वसत्ता-सम्पन्न राष्ट्र के कार्यों, गतिविधियों का आईना बनकर उसका पथ-प्रदर्शन भी किया करती है। कार्य या उद्देश्य की दृष्टि से इस प्रकार की समानता रहते हुए भी दोनों में एक बुनियादी अन्तर है। साहित्य में भाव या हृदय पक्ष की प्रधानता रहती है इसके विपरीत राजनीति में भावना और हार्दिकता के लिए, कल्पना के लिए प्रायः स्थान नहीं होता। इसमें बौद्धिक एवं भौतिक यथार्थ ही सत्य हुआ करता है। राजनीति का समूचा ढांचा सिद्धान्ततः उसी पर अवलम्बित रहा करता है जबकि आज की राजनीति गुण्डागर्दी, वोटों की गिनती और कुर्सी तक पहुँच पाने की सीढ़ी ही बनकर रह गई है।

साहित्य का कार्य या उद्देश्य मनोरंजक ढंग से जन-कल्याण करना, उसके जीवन-समाज को स्फूर्त कर नव-निर्माण और सुख-समृद्धि के शान्त पड़ावों की ओर ले जाना ही मुख्य रहा और माना गया है। इसी प्रकार बुनियादी तौर पर राजनीति का उद्देश्य मात्र मनोरंजन को छोड़ और सब कुछ भी करना है। जो साहित्य के बारे में ऊपर कहा गया है यदि वास्तव में अपने मूल सिद्धान्तों पर चलना जीवन-समाज को उन्नत विकसित बना दे, तो मनोरंजन या आनन्द का तत्व बाद में स्वयं ही आकर उसका महत्त्व बढ़ा देता है। लेकिन आज का सत्य या तथ्य राजनीति और साहित्य दोनों क्षेत्रों में स्वयं पथभ्रष्ट होकर मानव-जीवन-समाज को भड़का एवं भटका रहा है। खेद सहित स्वीकार करना पड़ता है कि ऊपर कथित बातें सच हैं। इसके लिए दोनों

क्षेत्रों की विभिन्न और विविध निहित स्वार्थों वाली गुटबन्दियां ही जिम्मेदार हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

साहित्य जब कई तरह के वादों के साथ जुड़ जाता है तब उसकी सारी चेतना वादात्मक सिद्धान्तों, मान्यताओं और रूप-रेखाओं में बंधकर ही चला करती है। फलतः उसमें 'सर्वजन हिताय' की भावना नहीं आ पाती है और वह लोक-हित का साधन तो क्या, ठीक प्रकार से लोकरंजन तक नहीं कर सकता। यही बात कई तरह के वादों, गुटों में बंटकर मात्र वोटों की संख्या और सत्ता की कुर्सी पर नजर रखने वाली राजनीति का भी सत्य है। आज की राजनीति और साहित्य दोनों इसी कारण जीवन-समाज को जितना चाहिए उतना नहीं दे पाते हैं।

ऐसा माना गया है कि तीर, बन्दूक आदि हथियारों में उतनी शक्ति और प्रभाव नहीं जितना की कलम और उससे रचे जाने वाले साहित्य में रहा करती है। इससे स्पष्ट है कि साहित्य जीवन को बहुत अधिक प्रभावित कर सकता है। साहित्य का उद्भव चूंकि हृदय से होता है इसलिए उसका प्रभाव भी सीधे हृदय पर ही पड़ा करता है। वह अपनी प्रभविष्णुता से, अपनी सारी ऊर्जा शक्ति पाठकों और श्रोताओं के अन्तर्मन में उड़ेल दिया करता है। हर दृष्टि से उसमें नवीन प्राणों को उद्वेलित कर दिया करता है। कुछ इसी प्रकार की बात राजनीति के बारे में भी कही जा सकती है। सच यह है कि उसका उद्देश्य उतना हृदय पर नहीं हुआ करता जितना कि जीवन-समाज के बौद्धिक क्षेत्रों पर। इनके माध्यम से ही हृदय में प्रवेश कर वह जन-मानस को क्रान्ति एवं नव-निर्माण के लिए, त्याग और बलिदान के लिए भी तैयार किया करती है। इस प्रकार स्पष्ट है जन-जीवन में नवचेतना, नवस्फूर्ति का संचार करना, नवक्रान्ति और नव-निर्माण की प्रेरणा देना साहित्य और राजनीति दोनों का काम है।

राजनीति और साहित्य के क्षेत्र सर्वथा भिन्न और अलग रहे हैं। लेकिन जब और जिस युग में भी ये दोनों कदम से कदम मिलाकर चले हैं, इन्होंने जीवन-समाज में आमूल परिवर्तन लाकर रख दिए हैं। फ्रेंच क्रान्ति, रूस क्रान्ति के मूल में युगीन साहित्य और साहित्यकारों का जबरदस्त हाथ माना जाता है। भारत जब स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए संघर्ष कर रहा था, तब भी साहित्य राजनीति के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलता रहा। इस तथ्य से सभी लोग भली-भांति परिचित हैं। वीरगाथा काल और परवर्ती कालों के चारण और भाट कवियों को, रीतिकाल के भूषण आदि कवियों को भला कौन भुला सकता है जिनके स्वर वीरों की भुजाएं फड़काकर उन्हें अपनी तलवारों की म्यान से बाहर निकाल देने को बाध्य कर दिया करते थे। भारतेन्दु-युग, द्विवेद्वी युग में रचे गए साहित्य ने भी राजनीति का उचित मार्गदर्शन कर लोगों को

राष्ट्र निर्माण व स्वतन्त्रता प्राप्ति की राह पर अग्रसर किया।

यह हमें स्वीकार करना पड़ता है कि आज की राजनीति और साहित्य अपनी वह आन्तरिक ऊर्जा खो चुके हैं कि जिनके द्वारा मैथिली शरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, दिनकर जैसे कवि, लेखक राजनीति में रहकर भी जन-भावनाओं का कुशल प्रतिनिधित्व करते रहे। साहित्य और राजनीति दोनों के दायित्व-निर्वाह को औचित्य भी प्रदान करते रहे। साहित्य की अतिरिक्त स्वायत्तता के पैरोकार और कविता की पवित्रता के आग्रही आम तौर पर साहित्य और राजनीति को आपस में दुश्मन साबित करके साहित्य को राजनीति से दूर रखने में ही उसकी भलाई समझते समझाते हैं। सबसे अधिक उनका गुस्सा प्रगतिशील लेखकों पर उतरता है जिन्होंने साहित्य और राजनीति के बीच उनके मुताबिक तालमेल किया और कविता जैसी नाजुक विधा को भी राजनीतिक बना डाला। प्रगतिशील लेखन के इस अपराध का विरोध करने के लिए वे आश्चर्यजनक रूप से प्रगतिशील लेखक संघ के स्थापना सम्मेलन में दिए गए प्रेमचंद के अध्यक्षीय भाषण के एक अंश का ही सहारा लेते हैं जिसमें उन्होंने कहा था कि साहित्य राजनीति के आगे चलने वाली मशाल है। यह कथन प्रगतिवाद विरोधियों के लिए दोनों के बीच विरोध पैदा करने का अस्त्र और साहित्यकार के राजनीति से परहेज बरतने का बहाना बन जाता है। वे इस बात पर भी ध्यान नहीं देते कि खुद प्रेमचंद अपनी किताबों को स्वतंत्रता आंदोलन का अंग मानते थे और शिवरानी देवी की मानें तो प्रेमचंद और उनके बीच होड़ लगी रहती थी कि कौन पहले जेल जाएगा। प्रेमचंद जेल तो नहीं गए लेकिन सरकारी नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया।

अगर इतिहास देखें तो साहित्य और राजनीति की यह पारस्परिकता नई नहीं है। संस्कृत साहित्य से परिचित लोग जानते हैं कि बाणभट्ट की कादंबरी में शुकनासोपदेश राजनीति के बारे में एक गंभीर उपदेश है। प्रसिद्ध ग्रंथ पंचतंत्र की रचना ही राजकुमारों को राजनीति की शिक्षा देने के लिए हुई थी। कालिदास ने भी अपनी रचनाओं में राजनीति पर टिप्पणी की है। शूद्रक के मृच्छकटिकम (मिट्टी की गाड़ी)और विशाख के मुद्राराक्षस की बात ही क्या, ये तो शुद्ध रूप से राजनीतिक नाटक थे। आखिर क्यों साहित्य से राजनीति के जुड़ाव की यह दीर्घ परंपरा है? इसका कारण है कि साहित्य समूचे समाज से जुड़ा हुआ है जिसका एक अनिवार्य अंग राजनीति है इसलिए राजनीति से उसकी दूरी ही अस्वाभाविक है। तुलसीदास के रामराज्य की यूटोपिया को भी हम एक आदर्श राज्य का सपना मान सकते हैं उनके आदर्श की आलोचना के बावजूद इस सुदीर्घ परंपरा ने ही वह जगह दी जहाँ से प्रगतिशील लेखकों ने राजनीतिक साहित्य लिखना शुरू किया था।

सवाल है कि जब राजनीतिक साहित्य की यह विशाल परंपरा थी ही तो

प्रगतिशील लेखकों पर यह तोहमत क्यों कि उन्होंने साहित्य को उसके मूल धर्म से विलग कर दिया? मुक्तिबोध ने ठीक ही इसकी जड़ें अमेरिका के नेतृत्व में संचालित सोवियत रूस और वामपंथ विरोधी शीत युद्ध के वैचारिक माहौल में देखीं। हम इसमें स्वतंत्रता के बाद सत्तासीन शासक समुदाय की यह मानसिकता भी तलाश सकते हैं जिसके कारण उसे विरोध की कोई भी आवाज नागवार गुजरने लगी थी। खासकर मार्क्सवाद का प्रभाव उसे खासा खतरनाक प्रतीत हो रहा था। स्वतंत्रता के पहले से ही जारी तेलंगाना विद्रोह के आवेग को साहित्य की क्रांतिकारी धारा से ऊर्जा प्राप्त हो रही थी और समूचे बौद्धिक माहौल पर मार्क्सवाद का असर जारी था। शासन तंत्र के लिए जरूरी था कि बुद्धिजीवियों में अराजनीतिक माहौल पैदा किया जाए और व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा साहित्य की स्वायत्तता जैसे नारे उसी जरूरत के तहत दिए गए। लेकिन इस प्रचार के बावजूद प्रतिरोधी साहित्यिक धारा का लेखन बंद नहीं हुआ जो बहुत हद तक राजनीतिक लेखन ही रहा। नागार्जुन को हम इस तरह के लेखन का पितामह कह सकते हैं। नागार्जुन ने इसका खतरा उठाया कि उनके लेखन को घटिया कहा जा सकता है। उनके लेखन को तुच्छ मानने की आदत गुणीजन में है लेकिन इसकी शक्ति यह है कि स्वतंत्रता के बाद का भरोसेमंद राजनीतिक सामाजिक इतिहास इसके बगैर लिखना असंभव है। अंतिम काव्य संग्रह तक उनकी यह विशेषता बनी रही। नेहरू से लेकर राजीव गांधी तक और समाजवाद की स्थापना से लेकर उसके ध्वंस तक का समूचा भारतीय राजनीतिक मानस नागार्जुन की कविताओं में बोलता है। विशेषज्ञतापूर्ण इतिहास लेखन के मुकाबले जनता की स्थिति और चेतना के अधिक प्रामाणिक चित्र नागार्जुन के यहाँ हैं। उन्हीं के साथी मुक्तिबोध ने राजनीतिक साहित्य को गंभीर बनाया। मुक्तिबोध की उपस्थिति साहित्य में वैचारिक तीव्रता के लिए ही मानी जाती है।

रघुवीर सहाय और धूमिल द्वारा राजनीतिक प्रतिष्ठान की गहन आलोचना के उदाहरण रघुवीर सहाय की कविता अधिनायक और धूमिल का समूचा काव्य संग्रह संसद से सड़क तक है। इसी धारा में हम इमर्जेंसी के बाद लोकप्रिय कवि के रूप में उभरे गोरख पांडेय को भी रख सकते हैं। गोरख पांडेय की खासियत यह थी कि उन्होंने क्रांतिकारी राजनीतिक लेखन को कलात्मक ऊँचाई तो दी ही उसे दार्शनिक गहराई भी दी। इस लेखन की एक बड़ी खूबी इसका शासन तंत्र के विरोध में खड़ा होना है। साहित्य का यह स्वाभाविक धर्म है क्योंकि साहित्यकार किन्हीं स्थितियों से व्यथित होकर और उन्हें बदलने की इच्छा से ही रचना कर्म में प्रवृत्त होता है। अन्यथा वह भी सबकी तरह मस्त जीवन बिताता। साहित्य का लेखन ही एक तरह की परिवर्तनेच्छा का सूचक है। इसीलिए प्रेमचंद ने उसी भाषण में कहा था कि

साहित्यकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है। प्रेमचंद के मूल कथन को देखें ताकि बात साफ़ हो सके। उनका कहना है—'वह (साहित्य) देश भक्ति और राजनीति के पीछे चलने सच्चाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है।' आखिर इसका संदर्भ क्या है? साफ़ तौर पर यह उस समय की राजनीति की सीमाओं के पार जाने की माँग साहित्य से करता है। खुद प्रेमचंद का साहित्य इसका प्रमाण है। कांग्रेस का समर्थक होने के बावजूद वे जमींदारों का समर्थन करते हुए देखकर कांग्रेसी नेताओं की निर्मम आलोचना करने में नहीं हिचकते। उनका उपरोक्त कथन न सिर्फ़ उनके दौर की राष्ट्रवादी राजनीति की आलोचना करता है बल्कि आज भी हमसे अंधराष्ट्रवाद के विरुद्ध खड़ा होने की माँग करता है। यहीं प्रगतिशील लेखन की एक और विशेषता का महत्व और प्रासंगिकता का पता चलता है। ध्यान दें तो सभी प्रगतिशील लेखकों के लेखन का एक अंतरराष्ट्रीय संदर्भ उजागर होता है। शमशेर बहादुर सिंह की कविता 'अमन का राग' तो विश्व शांति अभियान का मानो घोषणापत्र है। नागार्जुन, मुक्तिबोध तथा त्रिलोचन की कविताओं में सारी दुनिया के मानवतावादी साहित्यकारों के साथ साझा दिखता है। दुनिया भर में चल रहे जनता के अधिकारों और समानता के आंदोलनों के साथ यह जुड़ाव हमारे वर्तमान शासकों की अमेरिकापरस्ती के मुकाबले कितना स्वागत योग्य है।

साहित्य और समाज के बीच संबंध को समझना एक गंभीर मुद्दा है जिसे लेखकों और साहित्यिक विशेषज्ञों को संबोधित करने और सुलझाने की जरूरत है। बहुत समय पहले, एक लेखक खुद को धोखा दे सकता था और इस धारणा का पालन कर सकता था कि कला समाज से अलग है। अब सब कुछ अनोखा हो गया है क्योंकि हम तेजी से बदलती वास्तविकता का सामना कर रहे हैं। इसके अलावा, साहित्य और समाज के बीच एक मजबूत संबंध स्वतंत्रता की अवधारणा से काफी हद तक जुड़ा हुआ है। समुदाय के बाहर पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त नहीं की जा सकती। मानवीय स्वतंत्रता सामाजिक विजय का विषय है। समाज के एक हिस्से के रूप में, एक लेखक का रचनात्मक कार्य एक कर्मठ व्यक्ति के रूप में उसकी भूमिका से बंधा होता है। कुछ साहित्यिक विशेषज्ञों ने उपन्यास और समाज, विशेषकर राजनीति के बीच एक अविभाज्य संबंध स्थापित करने की दृष्टि से तथाकथित राजनीतिक उपन्यास का प्रस्ताव रखा है। इरविंग होवे का विचार था कि एक राजनीतिक उपन्यासकार को राजनीतिक उथल-पुथल में शामिल होना चाहिए या उसका काम कच्चा और अधूरा हो जाएगा, जबकि मैक्स एडेरेथ ने लिटरेचर एंगेजी (व्यस्त साहित्य) पर प्रकाश डाला। जॉर्ज ऑरवेल, जो अपने कार्यों 1984 और एनिमल फ़ार्म के लिए जाने जाते हैं, और एलेन रोबे-ग्रिलेट, एक फ्रांसीसी उपन्यासकार जिन्होंने

नोव्यू रोमन की अवधारणा पेश की, ने जोर देकर कहा कि लेखक को राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति करनी चाहिए। एक लेखक को केवल एक ही चीज़ में संलग्न रहना चाहिए, वह है, साहित्य। राजनीति सिर्फ एक मात्र राजनीति नहीं होती है बल्कि एक सत्ता और शासन भी होती है जिनके द्वारा लिए गए छोटे से छोटे निर्णय भी नागरिक को प्रभावित करते है। उनके अविवेकपूर्ण निर्णय समाज में विनाश का इतिहास लिख सकते हैं। इसीलिए सत्ता के प्रतिरोध में साहित्यकार अपनी कलम की ताकत दिखाता रहता है अथवा तत्कालीन समय की जरूरत हो तो वह रैली निकालना, विरोध प्रदर्शन, पुरस्कार वापसी जैसे तरीके भी अपनाता है। जिस प्रकार राजनीति एक शासन पद्धति है ठीक उसी प्रकार साहित्य एक जीवन पद्धति है। जिस प्रकार राजनीति का उद्देश्य अच्छी शासन पद्धति द्वारा खुशहाल जीवन देना होता है ठीक उसी प्रकार साहित्य की चिंता भी मनुष्य मात्र में सुखमय जीवन की इच्छा व बेहतर समाज बनाने का प्रयास होती है। साहित्य और राजनीति समाज में ही फलते-फूलते हैं। जब दोनों का उद्देश्य सामाजिक जीवन की बेहतरी ही है तो फिर दोनों अलग-अलग कैसे हो सकते हैं। दरअसल महत्वपूर्ण बात यह है कि हमारे मन में राजनीति शब्द की छवि बनती कैसी है? फिर उसी आधार पर राजनीति और साहित्य के सम्बन्ध को निर्धारित किया जा सकता है।

साहित्य की राजनीति से कोई जन्मजात दुश्मनी नहीं बल्कि उनके जनहितकारी मुद्दों को लेकर मत वैभिन्य होता है। इसलिए जो लोग सोचते है कि इन दोनों में दुराव की भावना होनी चाहिए सद्भाव की नहीं तो दरअसल उन्हें साहित्य की भूमिका को लेकर भ्रान्ति है। साहित्य की भूमिका संकीर्णता में नहीं अपितु व्यापकता में देखने के जरूरत है। कहा तो यह जाता है कि साहित्य राजनीति के आगे मशाल लेकर चलता है यानी राजनीति को राह दिखाता है। जहां राजनीति डगमगाए, वहां उसका तारणहार बनता है, लेकिन अर्से से महसूस हो रहा है कि इन दिनों राजनीति के पीछे रचनात्मकता दौड़ लगाती है। राजनीति अपने-अपने वोटों के जुगाड़ के लिए जो विमर्श तय कर देती है, सब उसी के पीछे दौड़ लेते हैं। वे साहित्य में भी अपनी जगह बना लेते हैं। इससे होता यह है कि जिसे नयापन या मौलिकता कहते हैं, वह गायब हो जाती है। इंटरनेट मीडिया के इस युग में जब दो-चार सौ पृष्ठ की पुस्तक पढ़ने के लिए बहुत धैर्य चाहिए, तब ऐसे में बहुत-सी रचनाएं ऐसी नजर आती हैं, जिनमें इन दिनों के चालू विमर्शो के आधार आप शुरू से ही देख सकते हैं। जब शुरुआत से ही पता चल जाए कि हार-जीत लिंग, धर्म, जाति के आधार पर तय होने लगे तो ऐसे में उन्हें पढ़ने की दिलचस्पी नहीं जगती। विमर्शवादी अक्सर हाय बचाओ चिल्लाते आते हैं, अपने प्रति सहानुभूति जगाते हैं और समाज

में अपना स्थान बनाते हैं, लेकिन जिस सहानुभूति की लहर से उन्होंने लोगों के मन में जगह बनाई होती है, उसी को पीटते हैं। वे असहमत होने के अधिकार की मांग करते हैं, लेकिन उनसे अगर जरा सा असहमत हुए तो वे हर तरह से लांछित करने में कोई कसर नहीं छोड़ते। पक्ष-विपक्ष की राजनीति ने इस तरह की रूढ़िबद्ध धारणाएँ बना दी गई हैं कि अगर साहित्यकार इनसे हटकर कुछ लिखना चाहें तो लिख ही नहीं सकते। हद तो यह है कि आजकल किसी के उपनाम से उसके लिखे की अच्छाई-बुराई तय कर दी जाती है। इंटरनेट मीडिया का भी इसमें भारी योगदान है। यह प्रक्रिया किसी भी लिहाज से सही नहीं, ना ही साहित्य के लिए और ना ही राजनीति के लिए।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. कंवल भारती, साहित्य और राजनीति की तीसरी धारा, कानपुर, 2015
2. साहित्य में राजनीति और समाज, डॉ व्रज कुमार पांडे, पुष्पांजलि प्रकाशन, 2019
3. डॉ. बी. एल. फड़िया, राजनीतिक सिद्धांत, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा
4. डॉ. पुखराज जैन, राजनीतिक विचारक, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा
5. डॉ. कुलदीप फड़िया, राजनीति विज्ञान, कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल